सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त
(Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या समाजशास्त्रियों ने कतिपय सिद्धान्तों के संदर्भ में की है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को हम किस उपागम से देखते हैं। यह उपागम ही सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त है। उदाहरण के लिये इतिहासकार **टोयनबी** (Toynbee) या समाजशास्त्री **पी. सोरोकीन** (P. Sorokin) जब सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, तो उन्हें लगता है कि परिवर्तन तो एक चक्र की तरह है ठीक ऐसे ही जैसे बाल्यावस्था आती है, युवावस्था आती है और अन्त में वृद्धावस्था के बाद शरीर समाप्त हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन को मार्क्सवादी इस संदर्श में नहीं देखते हैं। वे मानते हैं कि परिवर्तन का बुनियादी आधार आर्थिक संगठन है। इस भाँति देखें तो लगेगा कि सामाजिक परिवर्तन एक उपागम है जिसे विभिन्न सिद्धान्तों में बाँधा गया है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के कई सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों में सभी सिद्धान्त पूर्ण हो, ऐसा कुछ नहीं है। देखा जाये तो कोई भी सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है। प्रत्येक में कुछ न कुछ अभाव, कमजोरी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए **एन्थोनी गिडेन्स** तो कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के जितने भी सिद्धान्त हैं उन्हें दो वृहत् श्रेणियों में रखा जा सकता है :

1. उद्‌विकासवाद से जुड़े सिद्धान्त (Theories Related to Evolutionism)
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े सिद्धान्त (Theories Related to Historical Materialism)

उद्‌विकास से जुड़े हुए सिद्धान्त वस्तुतः प्राणिशास्त्रीय परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ने वाले हैं और ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े हुए सिद्धान्त मौलिक रूप से वे हैं, जिन्हें कार्ल मार्क्स ने रखा है। मार्क्स के बाद मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ताओं ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को उसके विभिन्न स्वरूपों में रखा है। यहाँ हम सामाजिक परिवर्तन के इन दो श्रेणियों में बँटे हुए सिद्धान्तों का विश्लेषण देंगे।

उद्‌विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theories)

उद्‌विकासीय सिद्धान्तों की यह श्रेणी बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत निम्न चार सिद्धान्त आते हैं :

1. सामाजिक डार्विनवादी सिद्धान्त (Theories of Social Darwinism)
2. चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical Theory)
3. एकरेखीय एवं बहुरेखीय उद्‌विकास सिद्धान्त (Unilinear and Multilinear)
4. पारसंस का उद्‌विकासीय सिद्धान्त (Parsons' Theory of Evolution)

(1) सामाजिक डार्विनवादी सिद्धान्त (Theory of Social Darwinism)

सिद्धान्तों के इस समूह में कई सिद्धान्तवेत्ता सम्मिलित हैं। इनमें मुख्य रूप से हरबर्ट स्पेन्सर, डार्विन, मेण्डल, हेनरीमेन आदि के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन सिद्धान्तों का केन्द्रीय बिन्दु समाज का उद्‌विकास है लेकिन व्यावहारिक रूप से ये सिद्धान्त उन्नति के द्योतक

Scanned with CamScanner

हैं। वास्तविकता यह है कि 19वीं शताब्दी के उद्विकासवादियों ने अपने आपको विकास के साथ जोड़ लिया। इनका कहना था कि समाज का उद्विकास उच्च नैतिक धरातल पर होता है। उद्विकासवादी सिद्धान्तों में सामाजिक डार्विनवाद 19वीं शताब्दी में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया। यह सिद्धान्त **चार्ल्स डार्विन** (Charles Darwin) के प्राणिशास्त्रीय उद्विकास से बहुत अधिक प्रभावित है। इसी कारण इसे डार्विन के नाम पर ही सामाजिक डार्विनवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त का तर्क है कि जिस प्रकार **प्राणिशास्त्रीय सावयव** (Biological Organism) अपने जीवित रहने के लिये बराबर जूझता रहता है। ठीक इसी भाँति मानव समाज भी अपने अस्तित्व के लिये जूझते रहते हैं। पश्चिमी देशों के आज के समाजों ने इस संघर्ष में अपने आपको विजयी पाया है इसलिये ये समाज आज भी शीर्ष स्तर पर है। कुछ लेखकों ने सामाजिक डार्विनवाद के विचारों को इस तथ्य के साथ जोड़ा है कि गोरे लोगों का प्रभुत्व काले लोगों पर है। इस सिद्धान्त में सब मिलाकर यह स्थापित किया गया है कि यूरोप के लोगों की शक्ति बहुत विशाल थी और गरीब-गुरबों का इसमें कोई स्थान नहीं था। सन् 1920 के दशक तक आते-आते सम्पूर्ण यूरोप में सामाजिक डार्विनवाद का पतन हो गया। सामाजिक डार्विनवाद ही क्यों, सम्पूर्ण उद्विकासवाद का पतन हो गया।

(2) चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical Theory)

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त को कई बार **चक्रात्मक सिद्धान्त** भी कहते हैं। इस तरह के परिवर्तन का स्वरूप किसी वृत्त या घेरे की तरह होता है। परिवर्तन की लम्बी अवधि को ध्यान में रखते हुए प्रायः इसकी व्याख्या चक्रीय रूप में की जाती है। चक्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया ऋतुओं में भी दिखायी पड़ती है। सर्दी के बाद गर्मी, उसके बाद वर्षा और पुनः सर्दी आती है। इस तरह भारतीय भौगोलिक परिस्थितियों के अन्तर्गत मौसम की गति एक चक्र में घूमती है। इसी प्रकार दिन के बाद रात और फिर दिन की प्रक्रिया भी चक्रीय है। यह भी प्रायः कहा जाता है कि इतिहास अपनी ही पुनरावृत्ति करता है। इतिहास की यह धारणा भी जीवन तथा घटनाओं की व्याख्या एक वृत्त के अन्तर्गत करने की चेष्टा करती है। **अरनाल्ड टोयनबी, स्पेंग्लर, लेविस ममफोर्ड, पिट्रिम सोरोकीन** जैसे दार्शनिकों, इतिहासवेत्ताओं व समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण वृत्त तथा चक्र के माध्यम से करने की कोशिश की है। **टोयनबी** वस्तुतः एक ब्रिटिश इतिहासकार है। उन्होंने अपनी विचारधारा को **इतिहास के अध्ययन** (A Study of History, 1934-1939, और 1954) नामक पुस्तक को लगभग 11 खण्डों में रखा है। उनका तर्क है कि मनुष्य के जन्म की तरह सभ्यता का भी जन्म होता है, वह फलती-फूलती है और अन्त में उसका विनाश हो जाता है। वे तथ्य देते हुए कहते हैं कि दुनिया में कुल 21 सभ्यताएँ थीं। इन सभ्यताओं में आज केवल पाँच सभ्यताएँ ही जीवित हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यताएँ भी जन्म लेती हैं और एक लम्बी अवधि में जाकर मर जाती हैं। टोयनबी का तर्क है कि आज की पश्चिमी सभ्यता पतन के कगार पर खड़ी है। सभ्यताएँ भी बदलती हैं, उनमें भी परिवर्तन आता है और इस परिवर्तन की प्रकृति चक्रीय होती है। टोयनबी ने प्रश्न रखा कि 21 सभ्यताओं में केवल 5 सभ्यताएँ ही जीवित क्यों हैं? वे मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास की गहरी पड़ताल करते हैं और कहते हैं कि किसी भी सभ्यता का जन्म तब होता है जब पर्यावरण अपने निवासियों को **चुनौती** (Challenge) देता है और निवासी उसका **प्रत्युत्तर**

Scanned with CamScanner

(Response) इस तरह देते हैं कि इससे नयी चुनौती पैदा होती है। यह **चुनौती और प्रत्युत्तर** (Challenge and Response) का सिलसिला जब तक निरन्तर रूप से चलता रहता है, सभ्यता आगे बढ़ती रहती है। जब चुनौती का प्रत्युत्तर नहीं आता तो समझिये कि सभ्यता विनाश के कगार पर आ गयी है; उसकी चिता सजा दी गयी है।

चक्रीय सिद्धान्तवेत्ताओं में **स्पेंगलर** (Spengler, Decline of the West, 1918) का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। स्पेंगलर ने विभिन्न सभ्यताओं की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला कि आज पश्चिमी सभ्यता अपने पतन की अवस्था में है। इसकी सांस फूल गयी है। इसकी मौत के बाद किसी अन्य सभ्यता का जन्म होगा। जैसे शरीर क्षणभंगुर है, कुछ वैसे ही सभ्यता भी जन्म लेने के बाद विनाश को प्राप्त होती है।

सोरोकिन (Sorokin, Social and Cultural Dynamics, 1937-1941) चक्रीय सिद्धान्तवेत्ताओं में एक उल्लेखनीय हस्ताक्षर है। उन्होंने अपने सिद्धान्त को पुस्तक के तीन खण्डों में रखा है। उनका सरोकार वृहत् स्तर पर होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन से है। उनका उपागम **सांस्कृतिक मनोवृत्तियाँ** (Cultural Mentalities) हैं। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्ति की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक सभ्यता का उद्‌गम होता है और निश्चित रूप से उसका पतन भी होता है। इन सांस्कृतिक मनोवृत्तियों में जो परिवर्तन आते हैं, उन्हें सोरोकिन ने छः सोपानों में रखा है :

1. ऐसे परिवर्तन जो समय और स्थान की दृष्टि से अजीब होते हैं;
2. ऐसे परिवर्तन जिनकी बराबर पुनरावृत्ति बनी रहती है;
3. अनुरेखीय परिवर्तन;
4. घटने-बढ़ने वाले परिवर्तन;
5. सर्पिल (Spiral) परिवर्तन;
6. शाखीय (Branching) परिवर्तन।

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त अत्यधिक जटिल है। वे अपने सिद्धान्त की केन्द्रीय इकाई सांस्कृतिक मनोवृत्तियों को मानते हैं। वास्तव में सोरोकिन जब सामाजिक परिवर्तन के उपागम को निश्चित करते हैं तो एक ओर तो वे वस्तु के इन्द्रिय ज्ञान को लेते हैं और दूसरी ओर उसकी मनोवृत्ति को। इस दृष्टि से वे संस्कृति की तीन श्रेणियाँ पाते हैं :

(i) संवेदनशील संस्कृति (Sensate Culture)

संस्कृति का यह वह भाग है जो भौतिक आनन्द से सरोकार रखता है। यह संस्कृति मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और इसके माध्यम से व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति में इसे भोग कहते हैं। भावात्मक वस्तुएँ जैसे सौन्दर्य बोध, कला आदि भी इसी संस्कृति में निहित है। संस्कृति के इस भाग का इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। दूसरी ओर वे वस्तुएँ जो इन्द्रिय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, इस संस्कृति की परिधि से बाहर आ जाती है। इन्द्रियपरक संस्कृति वस्तुतः जमीन से जुड़ी संस्कृति है, जिसे यथार्थ संस्कृति भी कहा जाता है। इस संस्कृति का मूल्यांकन भौतिक सुख के मानदण्ड से किया जा सकता है। **मर्टन** की व्याख्या के अनुसार, इस संस्कृति का उपभोग अधिक से अधिक तकनीकी साधनों के माध्यम से किया जाता है। प्रौद्योगिकी इन्द्रियपरक संस्कृति को प्राप्त करने

Scanned with CamScanner

का साधन होती है जिसे आम आदमी उपभोक्ता संस्कृति कहता है, वह वास्तव में इन्द्रियपरक संस्कृति है।

(ii) विचारणात्मक संस्कृति (Ideational Culture)

संस्कृति का यह भाग इन्द्रियपरक संस्कृति के विपरीत है। इस संस्कृति से जुड़ा हुआ समाज ईश्वरीय व आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है। यह संस्कृति अन्तिम सत्य की खोज में संलग्न होती है। हमारे समाज में इस संस्कृति का अनुयायी **संन्यास** और वानप्रस्थ सिद्धान्तों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। विचारणात्मक संस्कृति की अवस्था में समाज उपयोगितावाद के स्तर से ऊपर उठ जाता है, न ही वह नवीन आविष्कारों के साथ अपने आपको जोड़ता है। कला, साहित्य, आर्थिक, राजनीतिक व व्यावहारिक, व्यवस्थाएँ सभी धर्म, आचारशास्त्र व ईश्वर से ओत-प्रोत होती हैं। संस्कृति के इस भाग का लक्ष्य ऐहिकपरकता से दूर हटकर शाश्वत सत्य की ओर जुड़ा होता है।

(iii) आदर्शवादी संस्कृति (Idealistic Culture)

सोरोकिन संस्कृति के इस भाग को इन्द्रियपरक व विचारणात्मक संस्कृति का मिला-जुला रूप मानते हैं। इसमें आदर्शवादी संस्कृति और भौतिक सुखों तथा आध्यात्मिक चिन्तन का समन्वय होता है। इसमें विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य और आध्यात्म किसी की भी उपेक्षा नहीं की जाती। ज्ञान का उपभोग होता है, वह केवल ज्ञान प्राप्ति हेतु नहीं होता है।

सोरोकिन ने संस्कृति के इन तीन आयामों को चक्रीय रूप में प्रस्तुत किया है। वे इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए दो बुनियादी प्रश्न रखते हैं—(1) संसार में अन्तिम सत्य क्या है? (2) जीवन के सर्वोच्च मूल्य क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उन्होंने तीन उत्तर दिये हैं। पहला उत्तर तो यह है कि जिस किसी वस्तु से हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है, वही सत्य है। इस अर्थ में मोटरगाड़ी, कारखाना, गरीबी, शिक्षा ये सब तत्त्व सत्य हैं, क्योंकि इनकी हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है। सोरोकिन का दूसरा उत्तर यह है कि जिस किसी की हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है वह सत्य नहीं है। वह तो केवल मोह है, माया है, एक प्रकार का भ्रम है। मकान, कारखाने, जेवर, वस्त्र सभी नष्ट हो जायेंगे। इनमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है अतः यह सत्य नहीं हो सकते। सोरोकिन का तीसरा उत्तर यह है जो इन्द्रिय बोधक है और वह भी जो इन्द्रियातीत है, दोनों सत्य हैं। दूसरे शब्दों में, जिसे हम इन्द्रियों द्वारा देखते हैं वह भी सत्य है और जिसकी अनुभूति इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, वह भी सत्य है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले प्रश्न के उत्तरों पर निर्भर है। सत्य इन्द्रियपरक वस्तुओं को ही माना जाता है तो सर्वोच्च मूल्य खाओ, पीओ व मौज उड़ाओ को ले सकते हैं। वह संस्कृति जिसका आधार ये मूल्य हैं, उसे सोरोकिन ने इन्द्रियपरक संस्कृति कहा है। इस संस्कृति में समाज व समुदाय भौतिक वस्तुओं के उपभोग व विज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्ति को महत्त्व देता है। जब इन्द्रियपरक बोध को असत्य माना जाता है, और सत्य की परिकल्पना शाश्वत रूप में की जाती है तब सर्वोच्च मूल्य त्याग और इस जगत से पलायन की ओर जाते हैं। जगत को मिथ्या समझा जाता है अतः व्यक्ति भौतिक उपयोगों से बचकर एकान्त की इच्छा रखता है। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य का दृष्टिकोण इसी प्रकार का था। ऐसे मूल्यों को स्वीकृत करने वाली संस्कृति को सोरोकिन ने विचारणात्मक संस्कृति कहा है।

Scanned with CamScanner

तीसरे, सत्य को दोनों ही स्वरूपों में देखा है जो इन्द्रियपरक बोध है, वह भी सत्य है और जो इन्द्रियातीत बोध है, वह भी सत्य है। ऐसी संस्कृति में भौतिक जीवन के उपभोग को निर्लिप्त भाव से भोगने के मूल्य सर्वोपरि बन जाते हैं। गीता का कर्म दर्शन, जिसके अन्तर्गत फल की आशा किये बिना कर्म करने की व्यवस्था है, इसी श्रेणी में आएगा। ऐसी संस्कृति को सोरोकिन ने आदर्शवादी संस्कृति कहा है।

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त चक्रीय इसलिये है कि मानव समाज संस्कृति के इन तीन भागों को सिलसिले से अपनाता है। आज का समाज और विशेष करके पश्चिमी समाज इन्द्रियपरक संस्कृति की कगार पर खड़ा है। सोरोकिन का कहना है कि संस्कृति के ये प्रकार चक्र की तरह कालान्तर में भी घूमते रहेंगे।

(3) एकरेखिक व बहुरेखिक उद्‌विकासीय सिद्धान्त
(Unilinear and Multilinear Evolutionary Theory)

पिछले पृष्ठों में हमने उद्‌विकास सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इनमें अब हम आखिरी सिद्धान्त **एकरेखिक** (Unilinear) और **बहुरेखिक** (Multilinear) सिद्धान्त का उल्लेख करेंगे। एकरेखिक सिद्धान्तवेत्ताओं में कॉम्टे, स्पेन्सर और हॉबहाउस का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। एकरेखिक सिद्धान्तवेत्ताओं का महत्त्व विशेषकर 19वीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यदि इस शताब्दी को हम उद्‌विकास सिद्धान्तों की शताब्दी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन उद्‌विकासवादियों का आग्रह है कि मनुष्य समाज का विकास एक निश्चित रेखा में हुआ है। उन्होंने यह कहा कि दुनियाभर के समाजों के विकास की दिशा एक ही रही है। इस एकरेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए हैं। दूसरे शब्दों में, उद्‌विकासवादियों का कहना है, यदि कोई समाज उद्‌विकास के सोपान में ऊपर चढ़ना चाहता है तो उसकी दिशा सामान्य से जटिल निश्चित है। उदाहरण के लिये, चाहे यूरोप के समाज रहे हों या चीन के, उद्‌विकास के सोपानों में ये सभी समाज पहले कबीले थे, फिर आदिम समाज बने और फिर सभ्य समाज। अर्थ हुआ—**उद्‌विकासीय समाज निश्चित रूप से सामान्य से जटिल की ओर बढ़ता है, यांत्रिक अवस्था से सावयवी अवस्था की ओर जाता है।**

आगस्ट कॉम्टे ने सबसे पहली बार बौद्धिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है। ये स्तर इस प्रकार हैं :

1. धार्मिक अवस्था (Theological Stage),
2. तात्विक या गुणवादी अवस्था (Metaphysical Stage), और
3. प्रत्यक्षवादी अवस्था (Positivistic Stage)।

मेलिनोस्की और रेडक्लिफ-ब्राउन ने आदिम समाजों से जुड़ी हुई पर्याप्त एथनिक जानकारी हमारे सामने रखी है। यह तथ्य सामग्री बहुत मूल्यवान है। इस अवस्था में व्यक्ति किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आर्थिक स्तर पर सोचता था। इस ज्ञान की व्याख्या वह ईश्वर तथा हमारे देश में वेदों के आधार पर करता था। यह विचार और सोच की धार्मिक अवस्था थी। कॉम्टे के अनुसार उद्‌विकास की दूसरी अवस्था तात्विक थी। इस अवस्था में पहुँचकर समाज वस्तुओं को उनके गुण-दोष के आधारों पर देखता था। उद्‌विकास

Scanned with CamScanner

की सामाजिक प्रक्रिया में प्रत्यक्षवाद आया। प्रत्यक्षवाद वस्तुतः विज्ञानवाद है। इसका आग्रह है कि जिस भाँति समाज में वस्तुओं का उद्विकास होता है, वैसे ही सामाजिक संस्थाओं का भी उद्विकास होता है।

19वीं शताब्दी के एकरेखिक उद्विकास का महत्त्व अधिक दिन नहीं चला। हाल के पिछले कुछ दशकों में एकरेखिक उद्विकासीय सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। यह समझा जाने लगा है कि सभी समाजों का विकास एक ही रास्ते से हुआ हो, ऐसा नहीं है। सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक समाज के विकास का रास्ता समान नहीं रहा है। इतिहास बताता है कि यूरोप में इसकी समाप्ति बहुत पहले हुई। बहुरेखिक सिद्धान्तवेत्ताओं में **लेन्स्की और लेन्स्की** (Lenski and Lenski, 1982) ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य पर जोर दिया है कि समाजों के विकास की रेखा एक ही नहीं होती, कई रेखाएँ होती हैं, कई पथ होते हैं। इस विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के समाजों की पहचान की जा सकती है और इन समाजों के स्तरीकरण के आधार पर सरलता से जटिलता विभिन्न श्रेणियों में रखी जा सकता है।

बहुरेखिक सिद्धान्तवेत्ताओं का एक और तर्क यह है कि सामाजिक परिवर्तन का केन्द्रीय तत्त्व यह है कि समाज के सदस्य कितनी तत्परता से पर्यावरण के साथ अनुकूलन करते हैं। इस अनुकूलन की प्रक्रिया में सम्भव है कि कुछ समाज सरलता से सफल हो जाएँ और कुछ को सफल होने में लम्बी अवधि लग जाये। इसी कारण बहुरेखीय सिद्धान्तवेत्ता एकरेखिक सिद्धान्तों की प्रासंगिकता को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

(4) पारसंस का उद्विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory of Parsons)

उद्विकासीय सिद्धान्तों की शृंखला में पारसंस का उद्विकासीय सिद्धान्त, हाल के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सामान्यतया उद्विकासवादी सिद्धान्तवेत्ताओं का संदर्श प्रकार्यात्मक होता है। पारसंस भी प्रकार्यवादी हैं। उनका सुझाव है कि सामाजिक उद्विकास और कुछ न होकर प्राणिशास्त्रीय उद्विकास है। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय उद्विकास को समझने के लिये पारसंस ने एक **उद्विकासीय सार्वभौम** (Evolutionary Universals) की अवधारणा को रखा है। इस अवधारणा का तर्क यह है कि विकास के कुछ ऐसे प्रकार हैं जो विभिन्न दशाओं में सभी समाजों में देखने को मिलते हैं। विकास के इन प्रकारों को ही पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते हैं। इनका सामान्य अर्थ यह है कि कुछ सामाजिक संस्थाएँ इतिहास के क्रान्तिकारी करवटों के लेने पर भी जीवित रहती हैं। इन्हीं को पारंसस उद्विकासीय सार्वभौम कहते हैं।

पारसंस ने सार्वभौम की पहचान की है। ये सार्वभौम सभी समाजों में देखने को मिलते हैं। इन सार्वभौमों में पहला सार्वभौम, उदाहरण के लिये, **दृष्टि** (Vision) है। दृष्टि का अर्थ वस्तुओं को देखने की शक्ति है। यह दृष्टि मनुष्यों में ही नहीं, सम्पूर्ण पशु दुनिया में देखने को मिलती है। देखने के इस सामर्थ्य ने पशु और मनुष्य दोनों को अनुकूलन करने की शक्ति दी है। मनुष्य विकास की अवस्था में सबसे अधिक विकसित जानवर है। उसमें देखने की जो क्षमता है वह उसे अधिक अनुकूलन करने की शक्ति देता है।

सार्वभौम तत्त्वों में दूसरा तत्त्व **संचार** (Communication) का है। पारसंरा कहते हैं कि

Scanned with CamScanner

संचार सभी मनुष्य संस्कृतियों में देखने को मिलता है। बिना भाषा या बोली के संचार नहीं हो सकता। इसलिये सभी समाजों में भाषा एक ऐसा सार्वभौम है जो उद्‌विकास को विकास के रास्ते की ओर ले जाता है। पारसंस कहते हैं कि तीन और सार्वभौम हैं जो बहुत प्राचीन हैं और सभी समाजों में पाये जाते हैं। ये सार्वभौम हैं—धर्म, नातेदारी और प्रौद्योगिकी। इस तरह कुल मिलाकर पारसंस कहते हैं कि समाजों में चार सार्वभौम पाये जाते हैं, ये हैं—(1) दृष्टि, (2) संचार, (3) भाषा, (4) धर्म, (5) नातेदारी, और (6) प्रौद्योगिकी। ये सार्वभौम इतने महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली हैं कि इनके अभाव में सामाजिक उद्‌विकास आगे नहीं बढ़ सकता।

पारसंस के उद्‌विकास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक उद्‌विकास का कोई भी विश्लेषण तब तक अधूरा है जब तक हम सरल से जटिल की प्रक्रिया को नहीं समझते यानी यह नहीं जानते कि समाज सजातीयता के स्तर से विजातीयता की ओर बढ़ता है। समाज ज्यों-ज्यों सामाजिक उद्‌विकास के स्तर की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसमें अधिक से अधिक स्तरीकरण आता है। स्तरीकरण का मतलब हुआ समाज का सरल स्तर से जटिल स्तर की ओर बढ़ना।

पारसंस ने समाज के उद्‌विकास के सोपानों की पहचान की है। पहला सोपान जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि उद्‌विकासवादी सार्वभौमों का है। उद्‌विकासवादी सार्वभौम के लक्षण भी पारसंस ने पहचान लिये हैं। उद्‌विकासवादी सोपान का दूसरा स्तर **उच्चतर आदिम समाज** (Advance Primitive Society) का है। इस प्रकार के समाज के स्तरीकरण की व्यवस्था समाप्त हो जाती है और समाज **समतावादी** (Egalitarian) बन जाता है। उच्चतर आदिम समाज में प्रायः एथनीक यानी संस्कृति और वर्ग पाये जाते हैं। ये वर्ग उत्पादन व्यवस्था को निश्चित करते हैं और इस तरह लोग अपना जीवनयापन करते हैं। उच्चतर समाज में धर्म तो होता है पर इसका सम्बन्ध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं से नहीं होता।

पारसंस कहते हैं उद्‌विकास के दौर में **मध्यस्तरीय समाज** (Intermediate Society) का उद्‌गम होता है। इस तरह के मध्यस्तरीय समाजों को इतिहासकार सभ्यता या परम्परागत समाज के नाम से पुकारते हैं। ऐसे समाजों में मिस्र, चीन और भारत का नाम लिया जाता है। इन सभ्यताओं में या मध्यस्तरीय समाजों में लिखना और पढ़ना आ जाता है। धर्म नयी दिशाओं को ग्रहण कर लेता है, इसका अर्थ राजनीति से भी जुड़ जाता है। राजनीतिक नेतृत्व का विकास सरकारी प्रशासन के साथ हो जाता है।

पारसंस के उद्‌विकासीय सिद्धान्त में सबसे ऊँचा स्थान औद्योगिक समाजों को है। ऐसे समाजों में आन्तरिक विभेदीकरण या स्तरीकरण अत्यधिक मात्रा में होता है। इन समाजों में आर्थिक और राजनैतिक जीवन एक-दूसरे से बहुत अधिक पृथक् होते हैं। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था इस समाज में एक व्यापक व्यवस्था बन जाती है। पारसंस के सैद्धान्तिक विश्लेषण में समाजों का उद्‌विकास जिस तरह से हुआ है वह सरल से जटिल की ओर है। चित्र में इसे इस भाँति रखेंगे :

Scanned with CamScanner

समाज के उद्‌विकासीय चरण

उद्‌विकास सार्वभौम
(Evolutionary Universals)

दृष्टि | संचार | भाषा | धर्म | नातेदारी | प्रौद्योगिकी

उच्चतर आदिम समाज
(Advanced Primitive Society)

समतावाद | सरल संस्कृति | एथनिक विभाजन | वर्ग विभाजन | निश्चित उत्पादन व्यवस्था

मध्यस्तरीय समाज
(Intermediate Society)

लेखन | साक्षर | तात्विक | पारिवारिक सम्बन्ध | राजनैतिक नेतृत्व | आर्थिक विनिमय (कानून आदि)

औद्योगिक समाज
(Industrial Society)

व्यापक प्रजातन्त्र | नगरीकरण | पूँजीवाद | धर्मनिरपेक्षता | आन्तरिक विभेदीकरण

उपसंहार : उद्‌विकासीय सिद्धान्त की आलोचना
(Conclusion : Criticism of Evolutionary Theory)

पिछले पृष्ठों में हमने विस्तारपूर्वक उद्‌विकासीय सिद्धान्तों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। **गेलनेर** (Gellner, 1964) और **गिडेन्स** (Giddens, 1984) ने उद्‌विकासीय सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि हाल में समाजों का उद्‌विकास बड़े ही परिष्कृत रूप में पहुँच गया है और इस कारण इस सिद्धान्त की प्रासंगिकता पर कई प्रश्न उठ गये हैं। पहली बात तो यह है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त कहीं भी यह स्पष्ट नहीं करते कि मानवीय समाजों का उद्‌विकास प्रकृति के उद्‌विकासों से कितना मिलता-जुलता है और कितना पृथक् है। प्रकृति में तो अनुकूलन की अवधारणा स्पष्ट दिखायी देती है लेकिन मानव समाज में यह अनुकूलन एकदम अस्पष्ट है। जैवकीय क्षेत्र में अनुकूलन का अर्थ एकदम स्पष्ट हो जाता है लेकिन सावयवी समाज तो अनुकूलन के कई आयामों को अपना लेता है। सच्चाई यह हैं कि

Scanned with CamScanner

जीवित रहने के लिये मनुष्य किसी भी सीमा तक अनुकूलन करने को तैयार हो जाता है लेकिन जैवकीय क्षेत्रों में यह अनुकूलन बहुत सीमित होता है।

दूसरी आलोचना यह है कि जैवकीय क्षेत्रों में हम यह निश्चित कर पाते हैं कि जीवधारियों के उद्‌विकास में सरल से जटिल की व्याख्या बहुत सीमित और निश्चित होती है और ऐसा होने में एक लम्बी अवधि लग जाती है। दो हाथ पाँव वाला आदमी निकट भविष्य में चलकर तीन-चार हाथ-पाँव वाला नहीं बन सकता जबकि मानव समाज का उद्‌विकास देखते ही देखते जटिल बन जाता है। यह सब होते हुए भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पिछले वर्षों में विकसित उद्‌विकासीय सिद्धान्त आज अधिक परिष्कृत हो गये हैं। यह निश्चित है कि पिछले समाज दिशा की दृष्टि से आज अधिक जटिल बन गये हैं पर इस जटिलता में अनुकूलन की क्या भूमिका रही है, इसकी पड़ताल आने वाले अनुसंधानों से ज्ञात होगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद : मार्क्सवाद से नव-मार्क्सवाद तक
(Historical Materialism : From Marxism to Neo-Marxism)

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों का उल्लेख करते समय हमने कहा है कि ये सिद्धान्त दो प्रकार के है—उद्‌विकासीय सिद्धान्त और ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े सिद्धान्त। निश्चित रूप से इतिहास का भौतिकवादी निर्वचन कार्ल मार्क्स ने किया है। उन्हीं की परम्परा को थोड़े बहुत संशोधन के साथ अन्य मार्क्सवादियों ने भी आगे बढ़ाया है। इस सिलसिले में **कोजर** (Coser) और **राल्फ डेहरनडोर्फ** (Ralf Dahrendorf) के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। मार्क्सवाद के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को हाल में कतिपय अन्य सिद्धान्तवेत्ताओं ने नयी दिशा दी है। इन सिद्धान्तों को **नव-मार्क्सवाद** (Neo-Marxism) कहते हैं। परिवर्तन के इन सिद्धान्तों की व्याख्या यहाँ हम संक्षेप में करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन का मार्क्सवादी सिद्धान्त (Marxist Theory of Social Change)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की जो व्याख्या की है उसका थोड़ा बहुत भाग उद्‌विकासीय सिद्धान्तों से मिलता-जुलता है। उद्‌विकासवादी और मार्क्सवादी विचारक इस तथ्य से सहमत हैं कि समाज का उद्‌विकास भौतिक पर्यावरण के साथ जो अन्तःक्रिया होती है, उसी के परिणामस्वरूप है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक समाज का आधार आर्थिक होता है। यह आर्थिक आधार ही **बुनियादी संरचना** (Infra Structure) है। इस बुनियादी संरचना में परिवर्तन आने से या आर्थिक संरचना के बदलने से **अधि संरचना** (Super Structure) में परिवर्तन आते हैं। अधि संरचना के अन्तर्गत राजनीति, कानून और संस्कृति से जुड़ी हुई संस्थाएँ आती हैं। मार्क्स ने कहीं पर भी उद्‌विकासीय सिद्धान्तों की तरह अनुकूलन की चर्चा नहीं की है। उनका तो तर्क है कि मनुष्य अपने आपको सक्रिय रूप से **भौतिक दुनिया** (Material World) के साथ जोड़ता है। उसका यह प्रयास होता है कि वह इस भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व रखे और अपने हेतुओं की पूर्ति के लिये इसे वह अपने अधीन कर सके। इस तरह मार्क्स भौतिक दुनिया के साथ अनुकूलन की बात नहीं करते। वे तो भौतिक दुनिया को अपने अधीनस्थ करना चाहते हैं। यहीं आकर उद्‌विकासवादियों का अनुकूलन बदल जाता है। सामान्य शब्दों में, उद्‌विकासवादी कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति या भौतिक दुनिया के साथ अपना अनुकूलन कर

Scanned with CamScanner

लेता है या उसके साथ अपने आपको ढाल लेता है। मार्क्स इसे स्वीकार नहीं करते। वे तो कहते हैं कि आदमी अपने आपको ढालने की अपेक्षा भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

मार्क्स का तर्क है कि सामाजिक परिवर्तन को उन विधियों या तरीकों द्वारा समझा जा सकता है जिनके माध्यम से वह उत्पादन की नयी परिष्कृत पद्धतियों को अपनाता है। मनुष्य अधिक से अधिक भौतिक दुनिया पर अपना नियंत्रण स्थापित करता है और इस दुनिया को अपने अधीनस्थ बनाने का प्रयास करता है। भौतिक दुनिया पर नियंत्रण पाने की इस प्रक्रिया को मार्क्स उत्पादन शक्तियों का विकास करना मानते हैं। उत्पादन शक्तियों के सशक्त होने के साथ ही समाज का आर्थिक विकास होता है। मार्क्स के विचारों में सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ धीमी गति से होने वाले विकास से नहीं है। वे तो सामाजिक परिवर्तन का अर्थ क्रान्ति से जोड़ते हैं। इसी को मार्क्स **परिवर्तन के द्वन्द्वात्मक निर्वचन** (Dialectical Interpretation of Change) के नाम से परिभाषित करते हैं। वे तो आग्रहपूर्वक कहते हैं कि समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तनाव, मारधाड़ और युद्ध आते हैं।

मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन की वास्तविकता यह है कि जब उत्पादन शक्तियाँ तीव्र हो जाती हैं तो इसके परिणामस्वरूप अधि संरचना की संस्थाओं, जैसे की राजनीति, कानून और संस्कृति में तनाव आ जाता है। यह तनाव जितना अधिक तीव्र और विस्फोटक होता है, उतना ही अधिक सामाजिक परिवर्तन भी तीव्र हो जाता है। ऐसी अवस्था में वर्ग संघर्ष अधिक भयंकर हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप अन्त में चलकर या तो विद्यमान संस्थाओं का विघटन हो जाता है या एक नयी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था बन जाती है। इस प्रकार का परिवर्तन राजनीतिक क्रान्ति द्वारा भी सम्भव है।

मार्क्स के सिद्धान्त का आधार उत्पादन शक्तियाँ हैं। इसे हम एक दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं। मध्ययुगीन यूरोप में सामन्तवाद का स्थान औद्योगिक पूँजीवाद ने ग्रहण कर लिया। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का आधार लघुस्तरीय कृषि उत्पादन था। इस सामाजिक व्यवस्था में एक ओर तो अभिजन भू-स्वामी थे और दूसरी ओर किसान। लेकिन ज्यों-ज्यों उत्पादन शक्तियों में विकास हुआ, उद्योग और तकनीकी बढ़े तब अपने आप समाज की बुनियादी संरचना में परिवर्तन आने लग गये। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप नये आर्थिक सम्बन्धों का उद्‌गम हुआ। अब उत्पादन पूँजीवादी ढंग से होने लगा और यह उत्पादन गाँव से हटकर कस्बों और शहरों में आ गया। इतिहास के इस युग में तनावों का ऐसा सिलसिला विकसित हुआ कि एक ओर तो भूमि पर आधारित कृषि अर्थव्यवस्था थी तो दूसरी ओर उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था। जितने अधिक तनाव बढ़े उतना ही अधिक सामाजिक संस्थाओं पर बोझ आने लगा। भू-स्वामियों और हाल में विकसित पूँजीवादी वर्गों में संघर्ष होने लगा और अन्त में इसका परिणाम क्रान्ति की प्रक्रिया में देखने को मिला। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक नये समाज का सुदृढ़ीकरण हो गया। दूसरे शब्दों में, सामन्तवाद का स्थान औद्योगिक पूँजीवाद ने ले लिया।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन इस भाँति भौतिक दुनिया और उस पर प्रभुत्व पाने वाले प्रयासों से जुड़ा हुआ है।

मार्क्सवाद की परम्परा में **राल्फ डेहरनडोर्फ** (Ralf Dahrendorf) भी आते हैं।

Scanned with CamScanner

डेहरनडोर्फ जर्मनी के हैं। डेहरनडोर्फ को एक उल्लेखनीय संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता का दर्जा देने वाली उनकी पुस्तक **क्लास एंड क्लास कोन्फ्लीक्ट इन इन्डस्ट्रियल सोसाइटी** (Class and Class Conflict in Industrial Society, 1959) है। इस पुस्तक में वे सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को परम्परा से हटकर रखते हैं। उनका कहना है कि मार्क्स के समय में पूँजीवाद की जो प्रकृति थी, आज उस प्रकृति में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। पहले पूँजीवाद कुछ औद्योगिक घरानों तक सीमित था। आज का पूँजीवाद **कोरपोरेट** (Corporate) पूँजीवाद है। अब पूँजी का मालिक कोई एक परिवार न होकर अगणित शेयरधारक हैं। इस पूँजीवाद में औद्योगीकरण भी विकसित अवस्था में पाया जाता है। डेहरनडोर्फ ने सामाजिक परिवर्तन का जो सिद्धान्त रखा है वह अत्यधिक विकसित पूँजीवाद और औद्योगीकरण के संदर्भ में है।

डेहरनडोर्फ का तर्क है कि औद्योगिक समाज में अधिकारीतन्त्र महत्त्वपूर्ण होता है। इस समाज में कई संस्थागत ढाँचे पाये जाते हैं। इन ढाँचों में परिवार, जाति, धर्म, राजनीतिक दल आदि सम्मिलित हैं। इन संस्थागत ढाँचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य की अगणित भूमिकाएँ होती हैं। ये संस्थाएँ और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज सदस्यों की इन भूमिकाओं को **वैधता** (Legitimacy) देते हैं। वैधता का एक कारण और भी है कि प्रत्येक संस्था में कुछ निश्चित **शक्ति** (Power) होती है। इन्हीं सब तत्त्वों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था चलती है। समाज के इस सोच को डेहरनडोर्फ अवधारणात्मक रूप देते हैं।

डेहरनडोर्फ कहते हैं कि समाज में कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ होती हैं जो इन संस्थाओं को अपनी निरन्तरता में बाँधे रखती है। इसे वे **संस्थाकरण** (Institutionalization) कहते हैं। इन संस्थाओं की प्रक्रिया में कुछ **आदेश सूचक** (Imperative) प्रक्रियाएँ होती हैं जिन्हें समन्वित करके समाज का ढाँचा बनाया जाता है। इसे डेहरनडोर्फ **आदेश सूचक समन्वित समाज** अर्थात् ICA (Imperatively Coordinated Association) कहते हैं। डेहरनडोर्फ का प्रश्न है—आखिर सामाजिक व्यवस्था से हमारा क्या तात्पर्य है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे आदेश सूचक यानी कुछ ऐसे दबाव डालने वाले मानक या मूल्य होते हैं, जिनका समन्वय करके ही समाज बनता है। वास्तव में, समाज या संस्था के सदस्य जो भी भूमिका अदा करते हैं उसके पीछे समाज का आदेश होता है और इन भूमिकाओं का तालमेल ही आई.सी.ए. को बनाता है। दूसरे शब्दों में, आईसीए और कुछ न होकर संस्था के विभिन्न सदस्यों की भूमिकाओं की एक गठरी मात्र है।

सदस्यों की भूमिकाएँ ही वस्तुतः **शक्ति सम्बन्ध** (Power Relations) है। इस दृष्टि से समाज की किसी भी छोटी से छोटी इकाई से लेकर छोटे समूह और औपचारिक संगठन तक आई.सी.ए. (ICA) कहलाते हैं। आई.सी.ए. की यह अवधारणा केवल विश्लेषण के लिये है। इस सम्बन्ध में डेहरनडोर्फ का दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि संस्थाओं और सदस्यों की भूमिकाएँ शक्ति से बंधी होती हैं और इस कारण वे कभी भी समान नहीं हो सकतीं, क्योंकि प्रत्येक भूमिका के साथ जो शक्ति है उसका बँटवारा गैर-बराबर होता है। बहुत थोड़े में डेहरनडोर्फ का सामाजिक परिवर्तन कुछ इस तरह बना हुआ है—शक्ति हमेशा अपर्याप्त होती है और उसे पाने के लिये कई दावेदार दौड़ में होते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज

Scanned with CamScanner

में कई संस्थाएं और सामाजिक इकाइयाँ होती हैं। इन इकाइयों में सदस्यों की विभिन्न भूमिकाएँ होती हैं। ये भूमिकाएँ, सार में, शक्ति सम्बन्धों पर आधारित होती हैं और क्योंकि शक्ति अपर्याप्त है, अतः शक्ति सम्बन्धों में अनिवार्य रूप से गैर-बराबरी रहती ही है।

डेहरनडोर्फ कहते हैं कि औद्योगिक समाज वस्तुतः एक संस्थागत समाज होता है। इस समाज में व्यक्तियों के सम्बन्ध **शक्ति और प्राधिकार** (Power and Authority) द्वारा निश्चित किये जाते हैं। जहाँ मार्क्स पूँजीवादी समाज में **उत्पादन या सम्पत्ति सम्बन्धों** (Production or Property Relation) की चर्चा करते हैं, वहाँ औद्योगिक समाज के आई.सी.ए. में **सम्बन्ध शक्ति या प्राधिकार के** होते हैं। प्राधिकार के सम्बन्ध समाज में तनाव और अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष पैदा करते हैं और इसके कारण समाज में बदलाव आता है, जिसे मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। वहाँ डेहरनडोर्फ औद्योगिक समाज में पाये जाने वाले आई.सी.ए. को संघर्ष का उत्तरदायी मानते हैं। मार्क्सवादी परम्परा में डेहरनडोर्फ ने सामाजिक परिवर्तन का जो सिद्धान्त रखा है, वस्तुतः वह आई.सी.ए. में पाये जाने वाले प्राधिकार सम्बन्धों पर निर्भर है।

नव-मार्क्सवाद (Neo-Marxism)

पिछले दो दशकों में समाजशास्त्र में बहुत उलट-फेर हुए हैं। यूरोप के समाजशास्त्रियों, जैसे कि बोर्दियों, दरिदा, हेबरमास आदि ने समाजशास्त्र के नाम पर संस्कृति के अध्ययन पर बहुत जोर दिया है। बोर्दियों ने अपने अल्जीरिया के आनुभाविक अध्ययन के आधार पर मानवशास्त्र और संरचनावाद को नये आयाम दिये हैं। उनका सबसे बड़ा मुद्दा जिसे वह विवादास्पद समझते हैं **व्यक्तिनिष्ठ** (Subjective) और **वस्तुनिष्ठ** (Objective) उपागम का है। इन दोनों उपागमों को वे नवीन संरचनावाद में रखते हैं। इधर **सूक्ष्म सिद्धान्तवेत्ताओं** (Micro-Theorist) का कहना है कि सामाजिक घटनाओं को केवल सूक्ष्म स्तर पर देखने से कोई काम नहीं चलेगा। आज आवश्यकता **वृहत् और सूक्ष्म** (Macro and Micro) सिद्धान्तों के एकीकरण की है। सैद्धान्तिक उपागम के इस नवीन दृष्टिकोण ने मार्क्सवाद को भी नयी दिशा दी है। **उत्तर-आधुनिकतावादियों** (Post-Modernism) का तो तर्क है कि वस्तुओं को उनके सूक्ष्म रूप या स्थानीय रूप में ही देखना चाहिये, विशाल रूप में देखना तो कोई देखना नहीं हैं।

उत्तर-आधुनिकतावादियों का तर्क है कि मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का परम्परागत सिद्धान्त आज अप्रासंगिक है। मार्क्स ने हमेशा समाज को उसके सम्पूर्ण रूप में देखा है और नवीन संरचनावादियों का तर्क है कि कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को कभी भी नहीं देख सकता। समाज के केवल एक भाग को ही ठीक तरह से देखा जा सकता है। इस विशाल संदर्भ में नवीन संरचनावादियों और उत्तर-आधुनिकतावादियों ने मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त की व्याख्या परम्परा से हटकर की है। इसी को नवीन मार्क्सवाद कहते हैं।

नवीन मार्क्सवादी मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को सम्पूर्ण समाज पर लागू न करके समाज के सूक्ष्म रूप पर लागू करते हैं। नवीन संरचनावादियों और उत्तर-आधुनिकतावादियों ने मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को इसी नवीन रूप में रखा है।

Scanned with CamScanner

ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Historical Materialism Theory)

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों की व्याख्या कई तरह से हुई है। इस व्याख्या को हमने दो स्तरों पर देखा है। पहली व्याख्या उद्‌विकासवादी सिद्धान्तों की है। इन सिद्धान्तों को हमने कई रूपों में प्रस्तुत किया है—सामाजिक डार्विनवादी सिद्धान्त, चक्रीय सिद्धान्त, एकरेखिक और बहुरेखिक उद्‌विकास सिद्धान्त तथा पारसंस का उद्‌विकासीय सिद्धान्त। सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने वाले अन्य सिद्धान्तों को हमने भौतिकवादी सिद्धान्तों की श्रेणी में रखा है। इस श्रेणी में मार्क्सवाद तथा नव-मार्क्सवाद सम्मिलित हैं। ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्तों की व्याख्या कई सिद्धान्तवेत्ताओं ने की है। इसे हम निम्न बिन्दुओं में रखते हैं :

(1) मार्क्सवाद का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त समाज की सही व्याख्या है

ऐसे समाजशास्त्री और मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता हैं जो कतिपय बिन्दुओं को लेकर मार्क्स से असहमत हैं। कई दशकों से स्वयं मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता मार्क्स की कटु आलोचना करते आये हैं। यह सब होते हुए भी गिडेन्स का यह कहना सही है कि असहमति के होते हुए भी मार्क्स का परिवर्तन का सिद्धान्त बहुत बड़ी सीमा तक एक वैध सिद्धान्त है। इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों का यह कहना कि सामन्तवाद का पतन और आधुनिक पूँजीवाद का उद्‌गम जो मार्क्स ने बताया, सही है।

(2) परम्परागत राज्यों का उद्‌गम वर्ग संघर्ष के कारण नहीं हुआ, सेना की वृद्धि से हुआ है

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त सही और वैध होते हुए भी अपने विस्तार में बहुत सीमित हैं। मार्क्स ने यह कहा है कि जब उत्पादन शक्तियों में वृद्धि होती है, पूँजीवाद आता है। अन्य शब्दों में, पूँजीवाद का विस्तार उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के साथ जुड़ा हुआ है। मार्क्स की इस प्रकार की व्याख्या से कई सिद्धान्तवेत्ता असहमत हैं। यदि हम सावधानीपूर्वक एशिया और यूरोप के प्राचीन इतिहास को देखें तो लगेगा कि इन देशों में धन की वृद्धि का कारण उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के साथ नहीं जुड़ा है। हमारे देश में ही जब मोहम्मद गजनवी और मोहम्मद गोरी ने मध्य एशिया से आकर आक्रमण किये तो इसके परिणामस्वरूप ये आक्रमणकारी हीरे और सोने का बहुत बड़ा भाग अपने देश में ले गये। उनके देश में जो धन आया, वह उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के कारण नहीं आया। इसका कारण तो साम्राज्यवाद का विस्तार था और सेना के आक्रमण थे। इसी कारण आलोचक मार्क्स के उत्पादन शक्ति के बढ़ने के साथ पूँजीवाद के विकास के थीसिस को अस्वीकार करते हैं।

(3) मार्क्स ने पूर्वी सभ्यताओं में होने वाले सामाजिक परिवर्तन को अनदेखा कर लिया

मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त समझा जाता है। कतिपय सिद्धान्तवेत्ताओं का कहना है कि मार्क्स के सिद्धान्त की व्यापकता एशिया तक तो ठीक थी लेकिन इसके अलावा अफ्रीका, लैटिन अमेरिका, जापान, चीन, और भारत पर यह लागू नहीं होती। यहाँ पूँजीवाद के विकास के कारण प्रमुख रूप से आर्थिक नहीं रहे। भारत में उपनिवेशवाद ने पूँजीवाद को विकसित किया। थोड़े बहुत अन्तर के साथ इसी तरह का

Scanned with CamScanner

विकास चीन और जापान में भी हुआ। इसी कारण यह कहना उचित होगा कि सामाजिक परिवर्तन का बहुत बड़ा कारण राजनैतिक और सेना सम्बन्धी है।

(4) मेक्स वेबर कार्ल मार्क्स के घोर विरोधी थे

समाजशास्त्र में यह कहा जाता है कि कार्ल मार्क्स गरीब और पद-दलितों के नेता थे। उन्होंने इन वर्गों की रहनुमाई की। दूसरी ओर मेक्स वेबर एक ऐसे समाजशास्त्री थे, जिन्होंने पूँजीपतियों का भरपूर समर्थन किया। इस तरह के कथन निश्चित रूप से यह स्थापित करते हैं कि मेक्स वेबर कार्ल मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। वेबर का तो कहना था कि सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को किसी भी एक कारक की निर्णायक भूमिका द्वारा नहीं समझा जा सकता। मार्क्स का यह सोच दोषपूर्ण था कि सामाजिक परिवर्तन का प्रभावी कारण आर्थिक है। वेबर ने तो यहाँ तक स्थापित किया कि गैर-आर्थिक कारकों में प्रोटेस्टेन्ट आचार की भावना भी पूँजीवाद को जन्म दे सकती है।

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या यदि हम ईमानदारी से करना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन का कोई एक सिद्धान्त पूर्ण रूप से परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता। दूसरा, हमें कुछ ऐसे कारकों की पहचान करनी चाहिये जो मानव इतिहास में सुसंगत और सामान्य हैं। इसका मतलब सभी समाजों में ये कारक पाये जाते हैं। तीसरा, मार्क्स का यह कथन भी सही नहीं लगता कि सामाजिक परिवर्तन के लिये केवल आर्थिक कारक ही उत्तरदायी हैं। हाल में गुन्नार मिर्डल द्वारा लिखित **एशियन ड्रामा** (Asian Drama) के जिल्दों में भी यही कहा गया है कि सामाजिक परिवर्तन का कारण केवल आर्थिक ही हो, ऐसा नहीं है। गैर-आर्थिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में सहायक होते हैं।

Scanned with CamScanner